चतुर्थ अध्याय

उपसंहार

आचार्य का जीवन कर्म रहस्य का अद्भुत साक्ष्य प्रस्तुत करता है। हम जीतने अधिक कर्म में आसक्त होते है उतना ही अधिक हमारा कर्म अनुपयुक्त हो जाता है। जितने ही हम अनासक्त होकर कर्म करते है उतना ही वह कर्म सम्पूर्ण और सुरीला होता है। अनासक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म अधिकतम सुन्दर व सम्पूर्ण होता है! क्यों? इसलिए की जब हम आसक्त होते है तो हमारी एक सीमा होती है, हम सीमा बद्ध हो जाते है, जबकि सम्पूर्ण प्रकृति में छोटी-से-छोटी वस्तु भी विराट् से संबन्धित है और सीमा में की गई वस्तु अपने विराट् अंश को कम-से-कम उद्घाटित करते हैं, कर्म में लयबद्धता सुन्दरता तभी आ सकती है जब कि वह ज्ञान के आलोक में किया गया हो और ज्ञान के आलोक में किया गया प्रत्येक कर्म अनासक्त कर्म होगा।

मात्र तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को ही उन्होंने अपने अमूल्य देनों से समृद्ध न्हीं किया बल्कि आचार जगत् को भी उनके महनीय सिद्धांतों से सुदृढ़ आधार मिला। जैसा कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक वांगविलास नहीं बल्कि व्यवहार से ही उद्भूत एवं व्यवहार में ही अनुस्यूत है। यहाँ व्यावहारिक महत्ता को कदापि न्यून नहीं किया गया है। यहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों के विपरीत सिद्धांत और व्यवहार से ही सिद्धांतों का जन्म हुआ है। इस महनीय परम्परा के अनुसार ही आचार्य व्यवहारिक जीवन को ऐसा आधार देते हैं जो हमारे अमिष्ट प्राप्ति में नीतान्त सहायक है। शंकर का आचार सिद्धान्त उनके सत्यदृष्टा के सिद्धान्त पर ही प्रतिष्ठित है। फिर भी उनकी समन्वयवादी प्रवृत्ति हमें हर जगह दिखाई पड़ती है। उनका आचार सिद्धान्त ज्ञान कर्म और भक्ति को यथोचित स्थान प्रदान करते है। तथा वे लोक व्यवहार की महत्ता को न्यून नहीं करते, वह न तो स्पेन्सर के न्यू जेरूसलम की तरह काल्पनिक है और न कान्ट के आदर्शलोक की तरह अप्राप्य। आचार्य ने जिस कर्म सिद्धान्त का मार्ग दर्शन किया है वह व्यवहार और परमार्थ दोनों के लिए लाभदायक है। आत्मा का ज्ञान हो जाने पर निष्काम कर्म स्वयं फलित हो जाता है, वह भी स्पष्ट है कि मलिन चित्त

वाले आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते। किन्तु नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है जिससे जीव आत्म स्वरूप का बोध करता है। शंकर ने अपने भाष्य में स्पष्ट कहा है कि कर्म द्वारा संस्कृत होने पर ही विशुद्धात्मा आत्मबोध करने में समर्थ होता है।

उन्होंने यह सिद्ध किया कि ज्ञान की प्रभा से आलोकित व्यक्ति अपने देह का दुरूपयोग नहीं कर सकता जैसा कि वासनालिप्त व्यक्ति करता है। अत: उनके अनुसार समग्र नैतिकता की जड़े ज्ञान में ही प्रातिष्ठित है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि अज्ञान ही पाप है। यही सभी अनर्थो कि जड़ है। उनके सिद्धान्त की एक प्रमुख अपरोक्ष विशेषता यह भी है कि यह चरम आशावाद से परिपूर्ण है। उनके सिद्धान्त से यह स्वत: नि:सृत होता है कि कोई भी पाप या दुराचरण स्थायी नहीं है। अज्ञान ही पाप है जिसके हटते ही कोई पाप हो ही नहीं सकता, और यह अस्थायी अज्ञान या पाप भी सत् नहीं है उनके दर्शन में नरक की सम्भावना नहीं। हम सभी ब्रह्म है अत: सभी ज्ञान स्वरूप ही है अत: पापी या धर्मात्मा जैसा कोई वस्तु नहीं। घोर से घोर पापी और नीच से नीच अपराधी के लिए भी आशा है। नरक जैसी कोई चीज नहीं।

इसी से शाश्वत प्रेम का संदेश भी फलित होता है, हमारे अन्तर में जो ज्योति है वह सार्वदेशिक है, वह प्रत्येक व्यक्ति में है। जब हम प्रत्येक व्यक्ति में सत्य की सार्वजनिक भावना को देखेंगे तो सृष्टि के छोटे से छोटे प्राणी को भी आत्मवत मानकर प्रेम करेंगे। प्रेम के इस उदात्त स्वरूप को सभी धर्मों के सभी युगों के दृष्टाओं ने स्वीकार किया है। ईशा ने कहा है कि प्रेम ही ईश्वर है। वस्तुत: प्रेम ही वह सुरभि है जो सत्य दर्शन के बाद फैलती है। प्रेम ही विस्तार है। अर्थात सत्य और प्रेम अभिन्न है। प्रेम से ही अहिंसा फलित होती है। महावीर और बुद्ध ने अहिंसा पर इसीलिए सर्वाधिक ज़ोर दिया क्योंकि सत्य का स्वरूप प्रेम ही है। प्रेम के द्वारा ही हम अपनी व्यक्तिगत क्षुद्र सीमाओं को लाँघने में समर्थ होते है । हममें जो प्रेम की भावना है वही ईश्वर स्वरूप है ईश्वर की सबसे अमूल्य देन है।

शंकर के दर्शन पर यह आक्षेप की कर्म का स्थान गौण है नितान्त अनुचित हैं। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं वृहदारण्यक भाष्य में उन्होंने कर्म को मुक्ति का साधन नहीं स्वीकार किया

हैं। परन्तु इससे आचार्य का तात्पर्य कर्म की निरर्थकता से कदापि नहीं है। गीताभाष्य में आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि मनुष्य का कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। मुमुक्षु के अंत:करण की शुद्धि के लिए कर्म ही उपादेय है। निष्काम कर्म को वे बहुत महत्त्व देते है। यह ठीक है कि उन्होंने ज्ञान को ही सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया है और ज्ञान के प्रभाव से कर्म बंधनकारी नहीं बनते अन्यथा सकाम कर्म हमें बंधन ही देते हैं। कर्म मोक्ष प्राप्ति में सहायक है इस तथ्य को उन्होंने स्वीकार किया है।

आचार्य वेदांतधर्म को विज्ञान और युक्ति से पूर्ण नींव के ऊपर सुप्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए है।

वे मात्र एक प्रतिभावान दार्शनिक ही नहीं थे, प्रधानतया वे सत्यदृष्टा ऋषि थे। अप्रोक्षानुभूति की जागृत प्रेरणा ही उनके जीवन का अन्यतम वैशिष्टय था। वे देह धारण करके भी विदेह थे, मानव होकर भी अमानव थे, लोकवासी होते हुए भी लोकोत्तर थे।

न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदान्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्।

वस्तुत: उनका व्यक्तित्व ज्ञान भक्ति और कर्म का अपूर्व समुच्चय है। उनके आचार शास्त्र में साधना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। जैसा कि उनका स्वयं का जीवन भी इसका ज्वलंत प्रमाण है। साधना इसलिए आवश्यक है कि जन्म-जन्म के संस्कारों से आवेष्टित चित्त को निर्मल करना आवश्यक होता है। यदि साधना से चित्त को निर्मल नहीं किया जाय तो केवल वेदोंतोक्त सत्यों का अध्ययन करना निष्फल है। शंकर के मतानुसार वेदान्त के वही अधिकारी है जो पहले साधन चतुष्टय को अपनाते है-

१. नित्यानित्य-वस्तु-विवेक
२. ईहामुत्रार्थ भोग विराग
३. शामदमादि साधन सपत्
४. मुमुक्षत्व

उपरोक्त चारों साधनों से युक्त होने पर ही कोई वेदान्त का अधिकारी हो सकता है।

इस प्रकार हम पाते है कि अपनी कामनाओं को अनुशासित किये बिना हम आध्यात्मिक उपलब्धि के अधिकारी नहीं हो सकते बारम्बार ब्रह्म विद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण से ही क्रमशः वद्धमूल संस्कारों का क्षय हो सकता है।

आचार्य से पहले इस भारत भूमि में अनेक प्रकार के अद्वैतवाद का प्रचार था माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत शाक्तों का शक्तयद्वैत तथा वृतहरी और तदनुयायी मण्डनमिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन है। भृतहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द की ही अद्वैत कल्पना स्वीकृत की गई है।

परा पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी इन चतुविंध वाणी विभेद में परा वाक साक्षात ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डनमिश्र भी भृतहरि के मतानुयायी से लगते हैं। ब्रह्मसिद्धि के आधार पर कहा जा सकता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे, श्रवण से परोक्ष ज्ञान का उदय मान कर उपासना को ब्रह्म साक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे तथा वे ज्ञान कर्म समुच्च के पक्षपाती थे, जिसके अनुसार भी मोक्ष की उत्पत्ति में अग्निहोत्रादी वैदिक कृत्यों का अवश्यमेव उपयोग है। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी सन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। शंकर शाक्ताद्वैत से परिचित थे। सौंदर्य लहरी इसका उज्ज्वल उदाहरण हैं, स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धांतों का उन्होंने खण्डन किया हैं।

आचार्य अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं उन पर यह आक्षेप कि वे प्रच्छन्न बौद्ध है नितान्त अनुपयुक्त है। आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्द सामी के बल पर आत्मवाद को शून्यवाद का औपनिषदिक संस्करण मानते है तथा प्राचीन द्वैतवादी आलोचकों ने भी शंकर को बौद्धों से प्रभावित माना है परन्तु दोनों के मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कुछ आधारगत या मौलिक भेद है। शांतरक्षित ने तत्त्व संग्रह में अद्वैत दर्शनावलम्बी औपनिषद मत का खण्डण किया है। यदि अद्वैतमत में बौद्धमत की तनिक भी झलक होती तो शांतरक्षित तथा कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिक इनका बिना उल्लेख किए कैसे रहते। बौद्धों का विज्ञान अनित्य तथा ना ना है शंकर में विज्ञान नित्य तथा एक है। विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नाभास है परन्तु शंकर मत के ब्रह्म तद्रूप है।

इनमें अनेक मौलिक धारनायें भिन्न-भिन्न है। अत: शंकर को अद्वैत कल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी ठहराना नितान्त असंगत है।

सत्य को सत्य के रूप में रखना भी निराग्रही के द्वारा ही सम्भव होता है। उन्होंने वैदिक धर्म में घुस आये बाह्याडंबरों तथा कोरे कर्मकाण्ड पर बौद्धिक प्रहार कर उसके विशुद्ध स्वरूप से परिचित होने में जनसाधारण की सहायता की। उन्होंने धर्म के मूलतत्त्व को पकड़ने में लोगों को सहायता की। इस प्रकार उन्होंने धर्मजीवन में मानव के अध्यात्म चेतना में क्रांतिकारी परिवर्तन लाये। वस्तुत: उनका दर्शन सभी सिद्धांतों के मूल सुन्दर तत्त्वों का निचोड़ है।

आचार्य में एक ओर तो हमें दार्शनिक नीरसता दिखाई देती है और दूसरी ओर भावुकतापूर्ण भक्तहृदय भी। इन दोनों विरोधी बातों को यदि हम सामान्य व्यक्ति के जीवन में एक साथ देखते है तो हमें आश्चर्य होता है, लेकिन उन जैसे सर्वज्ञ महात्मा में इन दोनों का होना कुछ असंभव नहीं है। बाहर से विरोधी समझे जाने वाले उनकी विचारधारों में एक ही लक्ष्य था परमार्थ का। आचार्य के दर्शन में हमें आध्यात्मवाद का जितना प्रांजल रूप मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व कई अर्थों में असाधारण है। वे उन साहसी क्रान्तिकारियों में से एक है जो अपने युग के कुसंस्कारों के भारों से जनजीवन को मुक्त कराने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते है। उन्होंने ब्रह्मांडीय एकता तथा आध्यात्मिक संपूर्णता को ही अपने सम्पूर्ण दर्शन में मुखर होने दिया हैं।

समालोचना

आचरण की प्रेरणा के इस साधारणीकरण में कुछ लोग प्रेरणमात्र का निषेध देखते हैं। वेदान्त इस साधारण सत्य की उपेक्षा नहीं करता कि फल अथवा साध्य के ही रूप में कर्म के अर्थ की व्यंजना होती है। किन्तु इससे यह निर्णय नहीं होता की बाह्य फल में ही कर्म का चरम नैतिक मूल्य निहित है। बाह्य फल कर्म का अनिवार्य अनुषंग हैं किन्तु उसके नैतिक मूल्य का एकांत निर्णायक नहीं। यदि केवल भावना के स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं है, तो केवल बाह्य फल के रूप में कर्म नैतिक मूल्यांकन भी सम्भव नहीं। यदि साधु भावना

अंत मे किसी फल के लिए साधु होनेके कारण ही साधु है तो और अधिक विश्लेषण करने पर यह 'कोई फल' इसलिए साधु है कि वह 'किसी व्यक्ति' के लिए साधु है।

अस्तु, अंत में हम नैतिक कर्म के कर्ता पर आ जाते है जिससे हम सदा ही नैतिक चिंतन में प्रारम्भ करते हैं। हम मनुष्य के संकल्प और भावना के आधार पर नैतिक मूल्य के अंकन पर फिर लौट कर आ जाते है और यह सारा तर्क एक 'भ्रांति चक्र सा प्रतीत होता है।' साधुभावना का बाह्य फल से अनिवार्य अनुषंग है और उसी में उसकी साधुता की सार्थकता हैं, तथा बाह्य फल का प्रयोग कर्ता की भावना से है जिसके लिए भी वह मूल्यवान और सार्थक हो सकता है। यदि साधु भावना इसलिए साधु है कि वह किसी फल के लिए साधु है, तो वह 'कोई फल' स्वत :ही साधु नहीं हो सकता, उसकी साधुता किसी व्यक्ति के प्रसंग से ही सार्थक होगी जिसके लिए वह साधु हैं।

व्यक्तिगत भावना अथवा व्यक्तिगत कर्म फल से, जिसमे उसकी अभिव्यक्ति होती हैं, श्रेय के सामान्य स्वरूप के निर्धारण की चेष्टा ही इस कठिनाई का मूल हैं। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ग्रहण कर हम सामान्य की कल्पना नहीं कर सकते। सामान्य व्यक्तियों की एक अनन्त परम्परा का ना संकल्प है ना पर्यवसान। व्यक्ति कोई गणित का अंक नहीं हैं, यदि ऐसा होता तो केवल अनन्त विशेष व्यक्तियाँ ही होती और सामान्य अकल्पनीय होता। व्यक्ति की सामान्य लक्ष्णा में हम सत्य का वस्तुत: सामान्य स्वरूप पा सकते हैं।

कर्ताओं की व्यक्तिगत भावनाएँ हमे अनन्त व्यक्तिगत मूल्यांकनों की और ले जाएगा जिनसे हम श्रेय (good) अथवा श्रेय:संकल्प (good will) के चरम स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकते और व्यक्तिगत कर्म फल अथवा पदार्थों का प्रसंग जिनमें उस भावना की अभिव्यक्ति होती हैं अनन्त व्यक्ति विशेषों की और ले जाएगा जिनके आधार पर कभी परम श्रेय (highest good) की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्ता और फल दोनों सापेक्ष शब्द है, अत :उनके आधार पर हम निरपेक्ष सत्य तक नहीं पहुँच सकते। दोनों में से किसी एक पर अधिक ज़ोर देना एक पक्षी काल्पनिकता की ओर ले जाता हैं, और दोनों की सापेक्षता हमे एक लक्ष्यहीन पथ पर ले जाती है।

उस आध्यात्मिक तत्त्व में ही जो उन दोनों का आधार है हम अपने नैतिक प्रश्नो का अन्तिम उत्तर पा सकते। यह सत्य है कि आचार शास्त्र हमारे आचरण का दर्शन हैं और आचरण का फलों से सम्बन्ध है, किन्तु कर्म अथवा फल की मीमांसा मात्र से हम परम श्रेय कि स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकते। भावना अथवा संकल्प तथा फल सब व्यक्तियाँ है जो सामान्य की सृष्टि नहीं कर सकती। एक आध्यात्मिक तत्व उन दोनों का मूल्य है, उसी में हम अपनी जिज्ञासा का अन्त पा सकते है।

विश्व की वस्तुएँ दृश्य है, जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुएँ दृश्य है उसी प्रकार विश्व की वस्तुएँ दृश्य है। जो वस्तु दृश्य है वह मिथ्या है, क्योंकि वह अविद्या कल्पित है। विश्व व्यवहारिक दृष्टि से सत्य एवं पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है।

वस्तु, जब जीवन जगत् और संकल्प-स्वातंत्र्य के लिये वेदान्त में स्थान है तथा नैतिकता की चरम-मूल्यवत्ता आध्यात्मिक साध्य मोक्ष में विलीन या विनिष्ट नहीं हो जाती, तो यह नहीं कह जा सकता की वेदान्त में आचार-दर्शन के लिये स्थान नहीं है अथवा नैतिकता का इसमें की चरम मूल्य नहीं है। वेदान्त में न आचार-दर्शन की संभावना का और न नैतिकता के मूल्य का निषेध किया गया हैं, वरन उसमें दोनों को यथोचित्त स्थान और महत्व दिया गया हैं। किन्तु वेदान्त में और न किसी अन्य भारतीय दर्शन में आचार-शास्त्र को दर्शन के किसी पक्ष से पृथक किया गया हैं। दर्शन मनुष्य के जीवन और ज्ञान के चरम-सत्य की खोज का प्रतिक हैं। सत्य एक और अखड़ है अत: दर्शन के किसी पक्ष की मीमांसा उसे पृथक करके समुचित रीति से नहीं की जा सकती। अस्तु, वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों में आचार-दर्शन संबंधीचिंतन में आचार-शास्त्र के मूल सिद्धांत ही पाते है, उससे पृथक नहीं। किन्तु दर्शन से पृथक न होने के कारण आचार-शास्त्र के मूल सिद्धांत ही पाते है, समाज में उनके प्रयोजन की विस्तृत मीमांसा नहीं पाते। यह आलोचना की 'भारतीयो ने समाज की मीमांसा नही की' भारतीय चिंतन और साहित्य के विषय में एक ओर घोर अज्ञान के ऊपर आश्रित है। आचार-शास्त्र के सामान्य दर्शन के अतर्गत होने के कारण सामाजिक व्यवस्था में नैतिक सिद्धांतों के प्रयोजन की मीमांसा के लिये अवकाश न था। किन्तु नैतिक चिंतन का आरंभ मनुष्य के लिये एक परम-साध्य की कल्पना में हुआ था तथा उसका अन्त मनुष्य के लिये एक परम-साध्य की

कल्पना में हुआ। आखिर, समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही हुआ है, और वह आचार-दर्शन जो मनुष्य की प्रकृति तथा उसके आदर्श को ध्यान में रखता है और तद्विषयक सिद्धांतों की स्थापना करता हैं, न्यायपूर्वक 'समाजविरोधी' नहीं कहा जा सकता। वेदान्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने में साध्य मानता हैं। प्रत्येक मनुष्य को प्रणता का अधिकार है जो उसका परमार्थ नि:श्रेयस है। वह आचर-शास्त्र जो सामाजिक होने का दावा रखता है समाज की पूर्ण व्यवस्था के रूप में नि:श्रेयस की कल्पना करता है। वह साध्य की कल्पना पूर्ण रूप से संतोषजनक परिस्थितियों की अवस्था के रूप में करता है। किन्तु इस प्रकार के काल्पनिक आचार-शास्त्र के बाह्याभिमुख दृष्टिकोण से ऐसा साध्य है केवल एक स्वप्न और आशा है। वेदान्त साध्य को एक चरम सत्य के रूप में देखता हैं। इसमें सामाजिक पारिस्थतियों की एक काल्पनिक व्यवस्था के रूप में नहीं, किन्तु एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता के रूप में साध्य की कल्पना की गई है जिसमें मनुष्य अपनी चरम पूर्णता प्राप्त कर लेता हैं। यह आध्यात्मिक सत्ता प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता है। अत: वेदांतिकसाध्य स्वत :ही एक 'आदर्श-लोक' हो जाता है, जो पूर्ण व्यक्तियों से निर्मित हैं। पूर्ण व्यक्तियों का समाज स्वाभाविक रूप से समाज की पूर्ण व्यवस्था से सम्पन्न होंगा। जब मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण है, उसका आचरण स्वभाव से ही शुद्ध होंगा।

आचार्य शंकर के दर्शन में व्यवहार और परमार्थ में स्पष्ट भिन्नता है, वह स्वप्न जगत् को भी स्वप्न के समय सत्य मानते है इसी तरह व्यवहार जगत् भी माया के कारण सत्य है। माया के आवरण हटने के पश्चात ही इसकी मिथ्यता सिद्ध होती है। अत: जीव जगत् में नीति का होना आवश्यक हैं।